Chapter-2

द्वितीय अध्याय

I1I गुजरात में हिन्दी का उद्‌भव और विकास

I2I गुजरात में साखियों का उद्‌भव और विकास

दूसरा अध्याय ॥अ॥

"गुजरात में हिन्दी का उद्भव और विकास ।"

उत्तर में आबू से दक्षिण में दमण गंगा तक और पूर्व में दाहोद से पश्चिम में द्वारका तक फैले हुए गुजरातीभाषी प्रदेश को "गुजरात" कहा जाता है । गुजरात प्रान्त भाषा और साहित्य विषयक औदार्य के लिए सदैव उल्लेख्य रहा है । अपनी लोकभाषा के प्रति इसकी ममता की तो कोई सानी ही नहीं, इतर भाषा साहित्य के प्रति भी उसका अनुराग अपूर्व रहा है । विशेषकर हिन्दी भाषा का साहित्य तो गुजरात के कवि, मनीषियों द्वारा पोषित होता रहा है । इस तथ्य का प्रमाण है मध्य युग का विपुल हिन्दी साहित्य जो गुजराती संतों भक्तों व कवियों द्वारा रचा गया है । शोध खोजों से पता चला है कि इस क्षेत्र में 12 वीं शताब्दी से लेकर आज तक 8 सौ से भी अधिक कवि हुए हैं जिन्होंने स्वभाषा ॥गुजराती॥ के साथ-साथ हिन्दी में भी अनेक रचनायें की है ।

गुजरात प्रदेश भारत के पश्चिम क्षेत्र में स्थित है । गुजरात का भूभाग और सौराष्ट्र और कच्छ के द्वीप समूह से 195, 924 स्क्वायर कि.मी. इसका आयतन है । इसके पूर्व में राजस्थान, मध्यप्रदेश तथा दक्षिण में महाराष्ट्र तथा अरब समुद्र, पश्चिम में पाकिस्तान और राजस्थान है । प्रकृति ने भी इस प्रदेश में अपना मोहजाल इस प्रकार बिछाया है कि विभिन्न प्रदेशों के लोग जो इसकी सरहदों में स्थित हैं इसकी तरफ आकृष्ठ होते हैं । परन्तु इसकी प्राकृतिक बाधाओं को भेदकर इस प्रदेश में प्रवेश को दुष्कर नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य बनाया है । इसके उत्तर में मारवाड़, मेवाड़, सिरोही और कच्छ का मरूस्थल, आरावली, गिरिमाला का आबू, आरासूर, तारंगा और साबरकांठा के पर्वत आते हैं ।

पूर्व में बासवाड़ा, खानदेश, बलीरावपूर तथा सहयाद्रि गिरिमाला हैं । पश्चिम की ओर अरबी समुद्र, खंभात की खाड़ी तथा कच्छ की खाड़ी है । दक्षिण के पहाड़ों और जंगलों ने इस प्रदेश को प्राकृतिक संरक्षण प्रदान किया है । पर्वत मालाएं, नदी का समतल क्षेत्र और छोटी-छोटी पहाड़ियाँ, उपजाऊ भूमि के साथ पहाड़ी और मरुभूमि इन सबने मिलकर इसकी प्राकृतिक सम्पदा को बढ़ाया हैं ।

भारत में दो भाषापरिवारों की भाषाएं बोली जाती है । भारोपीय और द्राविड़ी । भारोपीय परिवार से आर्यभाषाओं के रूप में उत्तर की समस्त भाषाओं का विकास हुआ और द्राविड़ से दक्षिण भारत की चार भाषाओं का तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ । आर्य भाषा का मूल वैदिक संस्कृत और उससे क्रमशः संस्कृत, संस्कृत से पालि, पालि से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश और इससे हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी आदि भाषाओं का विकास हुआ । राजस्थान की चार बोलियों में वाती जयपुरी ढूंढाडी [1] मारवाड़ी और मालवी की शब्दों की अधिकता गुजराती में है । मूलतः ब्रजभाषा मध्य देश की भाषा होने के कारण अधिकांश साहित्यिक रचनाओं का संप्रेषण इस भाषा में हुआ । अतः राजस्थानी और ब्रजभाषा, गुजराती के काफी निकट हैं । दोनों भाषाओं के अधिकांश शब्द आपस में इस प्रकार संश्लिष्ट हो गये हैं कि उनका मूल ढूंढ पाना कठिन होता है ।

सूक्ष्म रूप से अगर गुजरात को देखा जाय तो यह चारों ओर से हिन्दी भाषी प्रदेश से घिरा हुआ है । कच्छ प्रदेश के निकटस्थ पाकिस्तान में हिन्दी मिश्रित उर्दू, मध्यप्रदेश की मूल-भाषा ही हिन्दी है, राजस्थान के अधिकांश लोग हिन्दी का ही प्रयोग करते हैं और महाराष्ट्र जहाँ से हिन्दी को फलन-फूलने का पूर्ण सुयोग मिला ।

---

(1) गुजरात की लोक संस्कृति की झलक - सुभाषिनी कपूर (पृ. 37)

अपने पारिपार्श्विक आबेहवा में हिन्दी की सहज प्रचुरता होने के कारण गुजरात भी इस भाषा के रंग में इस प्रकार रंग गया कि यहाँ के कवि लेखक और संतों ने इस भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का मूल बना लिया ।

मुगल शासकों में अकबर, जहांगीर, शाहजहाँ के समय में गुजरात में पूर्ण शान्ति बनी रही । इनके शासन काल में खंभात, सूरत और घोघा के बन्दरगाहों का अच्छा विकास हुआ ।[1] इन बन्दरगाहों से व्यापार आरम्भ हुआ और इनका विस्तार दिन दुगुनी रात चौगुनी बढ़ने लगा । इन बन्दरगाहों में काम करने वाले लोग अपनी सुख-सुविधा के लिए अपने घर परिवार के लोगों को भी अपने साथ रखने लगे और कालान्तर में वे इस प्रदेश के स्थायी निवासी बन गये, जिसके कारण इस प्रदेश के लोग इनके साथ स्वदेशवासियों की तरह ही व्यवहार करने लगे । शादी ब्याह भी इनका आपस में होने लगा । अतः सामाजिक रीति रिवाज़ का भी आदान-प्रदान होने लगा जिससे भाषा का भी विस्तार हुआ । मूलतः गुजरात हिन्दी भाषी प्रदेशों परिवेश से घिरे होने के कारण, हिन्दी भाषी प्रदेशों ने इस प्रदेश के ऊपर अपना सांस्कृतिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि विविध प्रभाव स्थापित किए ।

पाँच मुगल बादशाह हुमायुँ, अकबर, शाहजहाँ और औरंगजेब गुजरात आकर रहते थे । औरंगजेब का जन्म गुजरात के दाहोद में हुआ था । प्रेमानंद, अखा और शामल आदि प्रसिद्ध कवियों के उत्थान का समय मुगलकाल ही है । मुगल बादशाहों ने भारतवर्ष की संस्कृति, धर्म एवं भाषा को बहुत सम्मान दिया । अकबर के शासनकाल में खड़ी बोली को गुजरात में फलने-फूलने का अवसर मिला ।

----

(1) गुजरात की लोक संस्कृति की झलक - (पृ. 37)

ललित मोहन अवस्थजी ने "खड़ी बोली का सामाजिक आन्दोलन" में लिखा है कि अकबर के हिन्दी प्रेम का परिचय तो उनका हिन्दी कवियों को आश्रय देना, पुरस्कार से प्रोत्साहित करना तथा स्वयं भी कविता करना है । उन्होंने अपने बेटे जहाँगीर तथा पोते खुसरों को तो छ: वर्ष की अवस्था में ही हिन्दी सीखने के लिए भूदत्त ब्राह्मणों के सुपूर्द कर दिया था । शाहजहाँ अपनी मातृभाषा के समान ही हिन्दी में भाषण और कविता कर लेता था ।[1] डॉ० नामवर सिंह ने भी कहा है कि ई. 1253 - 1325 में अमीर खुसरो की रचनाओं से भी खड़ी बोली के नमूने लिए जा सकते हैं ।[2] अत: ई.स. 1253 से गुजरात में हिन्दी का आरम्भ स्पष्ट रूप से मुसलमानों के निकट सम्पर्क के कारण मुगलकाल से ही है । मुसलमान अपने साथ उनकी संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था उपासना पद्धति तथा नैतिक धारणा लाये थे । इसके आदान-प्रदान के लिए ऐसी भाषा की आवश्यकता थी जो दोनों को समझ में आ सके । इसका माध्यम गुजरातियों तथा मुसलमानों दोनों ने "हिन्दी" को बनाया । इस प्रकार हिन्दी को गुजरात में प्रचारित करने में मुसलमानों का योगदान महत्वपूर्ण है ।

अपभ्रंश से निकलती हिन्दी का आदिरूप पाटण निवासी हेमचन्द्राचार्य कृत "सिद्ध हेमशब्दानुशासन" में तथा वाढवाण के जैनाचार्य मेरुतुंग की "प्रबन्ध चिन्तामणी" के दोहों में देखा जा सकता है । श्रीधरकृत "रणमल छंद {सं० 1454} पद्मनाम कृत "कान्हडदे प्रबन्ध {सं० 1512} में भाषा का स्वरूप {प्राचीन पश्चिम गुजराती} और अधिक स्पष्ट हो जाता है ।[3] इस प्रकार के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ गुजरात में उपलब्ध हैं जिनसे हमें इसकी हिन्दी सम्पदा का प्रमाण मिलता है ।

{1} खड़ी बोली का सामाजिक आन्दोलन - डॉ० अवस्थी {पृ० 222}

{2} हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग - डॉ० नामवर सिंह {पृ० ?3}

{3} हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में गुजरात का योगदान - नागरजी {पृ० 89}

इन लोगों ने अपनी रचनाओं के उपयोग और प्रचार हेतु इस भाषा के प्रचार पर भी जोर दिया और साधारण से साधारण लोगों तक भी अपनी रचना को पहुँचाने का प्रयत्न किया । गुजरात में हिन्दी भाषा की शिक्षा के बारे में डॉ० देरासरीजी ने लिखा है कि बृजभाषा की शिक्षा मध्यकालीन गुजरात में कोई इस भाषा को जानने वाले ही सिखाता था । शिक्षार्थी के नंददासजी की "मान मंजरी" कंठस्थ करायी जाती थी[1] उसके बाद "अनेकार्थ मंजरी" समाप्त करना पड़ता था ।

इस प्रकार हिन्दी के विकास के लिए शिक्षक तथा छात्र दोनों प्रयत्नशील रहते थे । जनता इस भाषा के विकास के बारे में भी उन्मुख थी । डॉ० देरासरीजी के अनुसार पौने दो सौ वर्षों की जन समाज की शिक्षित लोगों की संख्या निर्धारित करते समय पाया गया है कि अधिकांश शिक्षित लोग बृजभाषा का अभ्यास करते थे ।[2] इस प्रकार का वातावरण पाकर गुजरात में हिन्दी भाषा पुष्पित और पल्लवित होने लगी । अधिकांश कवि और लेखक इस भाषा में रचना करने के लिए प्रवृत्त दिखाई देने लगे । इस भाषा में उत्कृष्ठ रचनाकार को पुरस्कृत भी किया जाता था । अतः बृजभाषा दिन दुगुनी और रात चौगुनी पनपने लगी ।

मध्यकालीन गुजरात में हिन्दू-मुस्लिम जैन धर्म का प्राधान्य था । इसका प्रभाव इनके द्वारा रचित साहित्य पर भी पड़ा तथा इस धर्म से अनुप्राणित लोग भी इसमें छिट-पुट रचनायें करने लगे । प्राचीन काल से ही गुजरात में जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार होता रहा है । इसका अत्यधिक प्रसार हमें ।। शताब्दी से

---

(1) गुजरातीओऐ हिन्दी साहित्यमां आपेलो फाड़ो - (पृ० 2)

(2) गुजरातीओऐ हिन्दी साहित्यमां आपेलो फाड़ो - (पृ० 3)

विशेष परिलक्षित होता है । गुजरात का अपभ्रंशकालीन साहित्य अधिकांशत: जैन कवियों द्वारा रचित है ।[1] जैन धर्मावलम्बियों ने अपभ्रंश प्राचीन हिन्दी तथा प्राचीन गुजराती में अनेक रचनायें की है ।

वास्तविकता यह है कि मध्ययुगीन गुजराती साहित्य के अधिकांश कवियों को हिन्दी भाषा और साहित्य का गहरा ज्ञान था, इसी कारण वे तत्कालीन धर्म और समाज की अवस्था पर सुष्ठ रूप से हिन्दी में रचना करने में समर्थ हो सके । डॉ0 ललित मोहन अवस्थी का कहना है कि जैन धर्मावलम्बियों का प्रभाव गुजरात में 17 वीं शताब्दी तक रहा, इसके पश्चात् भी ये कवि खड़ी बोली तथा बृजभाषा में रचनायें करने लगे । ये जैन कवि जनहित की दृष्टि से ब्रज की ओर अधिक प्रवृत्त हुए । इनमें आनन्दघन, ज्ञानानन्द तथा किशनदास अधिक प्रसिद्ध कवि है ।[2] इन्होंने अपनी बोधप्रद रचनाओं के द्वारा तीन सौ से अधिक वर्षों तक गुजरात की जनता की सेवा की तथा साथ ही साथ ब्र हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया । गुजरात के जैन कवियों की रचनायें साहित्य के साथ-साथ खड़ी बोली के विकास के अध्ययन की दृष्टि से बड़ी उपयोगी है । दिगम्बर साहित्य के अधिकांश हिन्दी ग्रंथ संस्कृत या प्राकृत से अनुदित हैं ।[3] जैन साधुओं ने अपने मत का प्रचार हिन्दी कविता के माध्यम से किया जिनकी शैलियाँ मुख्यत: रास, फागु, चरित आदि थी ।

गुजरात के प्रसिद्ध सोलंकी वंश के महाराज सिद्धराज के समय में प्रसिद्ध व्याकरणकार और जैनाचार्य हेमचन्द्रजी ने अपभ्रंश तथा प्राकृत भाषा के लक्षण सूत्रों को दर्शाते हुए "सिद्ध हेम व्याकरण" की रचना की तथा उनकी अपभ्रंश की रचनायें

----

(1) हिन्दी साहित्य को गुजरात के संत कवियों की देन - रामकुमार गुप्त (पृ. 43)

(2) खड़ी बोली का सामाजिक इतिहास - ललित मोहन (पृ0 226)

(3) खड़ी बोली का आन्दोलन - शितिकंठ मिश्र (पृ0 43)

गुजरात में हिन्दी के उद्भव को दर्शाती है । उनके द्वारा निर्देशित आकारांत शब्द हिन्दी खड़ी बोली के बीज हैं -

भल्ला हुआ जु मारिया, वारिणी म्हारा कंतु ।
लज्जेज्जं तु वंदसि अहु, जई भग्गा घरू ऐंतु ।।

मध्यप्रदेश तथा गुजरात का संबंध प्रगाढ़ बनाने में तथा भाषा का आदान-प्रदान करने में कृष्ण-भक्ति का भी अभूतपूर्व सहयोग है । भगवान श्रीकृष्ण की जन्मभूमि मथुरा है, लीलाभूमि गोकुल - वृन्दावन है, कर्मभूमि द्वारिका है देहोत्सर्ग भूमि सोमनाथ के पास का प्रयास क्षेत्र है ।[1] हम देखते हैं कि द्वारका तथा मथुरा कृष्णभक्ति के केन्द्र बन गये । धार्मिक लोग लम्बी-लम्बी यात्रायें करके इन दोनों प्रदेशों के बीच की दूरी को बड़ी आसानी से काट लेते थे । "मथुरा से ब्रजभाषा भी इस प्रदेश में आयात होने लगी तथा अपनी साहित्यिक सम्पन्नता के कारण समाज के शिक्षित वर्ग में अपना प्रभाव स्थापित करने लगी । अर्वाचीन काल में जो सम्मान अंग्रेजी को प्राप्त है वही सम्मान मध्यकालीन गुजरात में हिन्दी-व्रज को था" केवल गुजरात नहीं राजस्थान, महाराष्ट्र में भी हिन्दी के कवियों को सम्मान दिया जाता था । डॉ० धीरेन्द्रवर्मा के अनुसार "गंगा यमुना के प्रदेश की संस्कृति का प्रत्यक्ष प्रवेश इस प्रदेश में दिखाई देता है ।" मुख्य बात यह है कि गुजराती साहित्य के अधिकांश कवियों को हिन्दी भाषा और साहित्य का विशेष ज्ञान रहता था इससे प्रभावित होकर वे समकालीन भाषा में अपनी भावाभिव्यक्ति करने में सफल रहे ।

राजा मूलराज ने श्रीस्थल में एक यज्ञ कराया था जिसमें प्रयाग से और काशी आदि तीर्थ स्थलों से अनेक विद्वान ब्राह्मणों को बुलाया था तथा यज्ञ समाप्ति के पश्चात् उनको वहीं बस जाने का अनुरोध किया था ।[2] इन

----

(1) हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में गुजरात का योगदान - (गुजरात के कृष्णभक्त कवि और उनका ब्रजभाषा काव्य - डॉ० हरीश द्विवेदी) पृ० 248

(2) दयाराम और उनकी हिन्दी कविता (पृ. 45) में "रासमाला" से उद्धृत)

ब्राह्मणों ने वहाँ रहकर अपने वंश, साहित्य के साथ-साथ हिन्दी (ब्रज) भाषा का भी यहाँ विस्तार किया । स्वामी नारायण सम्प्रदाय के स्वामी सहजानन्दजी हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश अयोध्या के निवासी थे ।[1] यही कारण है कि उनके तथा उनके शिष्य प्रशिष्यों की वाणियों में गुजराती के साथ-साथ हिन्दी का विपुल व्यवहार दृष्टिगोचर होता है । इनका कार्यक्षेत्र शुरू से ही गुजरात रहा है ।

गुजरात में अनेक प्रकार के धार्मिक पंथ है जिन्होंने हिन्दी भाषा में लोगों को पढ़ाया तथा अपना धर्म भी इसी भाषा में प्रचार किया । इन पंथों में मुख्य पंथ हैं, प्रणामी पंथ, राधा स्वामी, पीराणा, वीजमार्गी, रामस्नेही, उदासी, कबीर पंथ आदि अनेक निर्गुणी सम्प्रदाय प्रचलित हैं जिनमें से प्राय: सभी की भाषा हिन्दी है ।[2]

वैष्णव कवि भालण, नरसिंह महेता, वैजनाथ, कृष्णदास, मीरा, मुकुन्द गुगली, त्रिकमदास, दयाराम, हर्षदास, गिरधर एवं जानसुता प्रतापबाला ने ब्रजभाषा में भक्तिगान और वैराग्य से पूर्ण काव्य सर्जन करके गुजरात को हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान दिलाया है ।[3]

निर्गुण संत कवि दादू, अखा, प्राणनाथ, जीवनदास, प्रीतम, भाणदास, मोरार साहब, निरांत, धीरा भगत, करुणासागर, भोजा भगत, दीन दरवेश, मनोहर, छोटय आदि ने हिन्दी में काव्य रचकर इस भाषा को जनभाषा का रूप दिया ।

----

(1) गुजराती साहित्य (मध्य काल) (पृ0 104)

(2) गुजरात में हिन्दी की परम्परा और आचार्य गोविन्द गिल्लुभाई - डॉ0 चतुर्वेदी (पृ0 54)

(3) गुजरात में हिन्दी काल की भूमिका में करुणासागर - डॉ0 व्यास (पृ0 17)

सूफी संत कवि शेख बहारूदीन बाझन काजी महमूद दरीयायी शाह, शाहअली गामदनी आदि ने भी हिन्दी भाषा में अपने विचार प्रकट करके भाषा के प्रति समदृष्टि का पाठ पढ़ाया है । इन्होंने सब धर्मों को समान महत्व दिया है । गुजरात के विद्वानों ने इन सूफी मत के कवियों की भाषा को उर्दू का प्रारम्भिक रूप - गुजरी माना है । अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि इनकी भाषा खड़ी बोली परम्परा की ही एक कड़ी है ।[1]

गुजराती साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान कवि न्हानालाल दलपत राम ने अपने ग्रंथ "दलपतराम" में लिखा है "कच्छ राज्य का सिंहासन तो भुज की ब्रजभाषा पाठशाला है"[2] ई.स. 1747 में महाराव लखपतिजी ने ब्रजभाषा पाठशाला की स्थापना की । महाराव स्वयं भी एक श्रेष्ठ कवि थे । उनके समय में कविता लिखने की एक सुदृढ़ परम्परा राज्याश्रित कवियों में व्याप्त थी । अत: महारव ने सिंध काठियावाड़, गुजरात, राजस्थान आदि प्रदेशों से अनेक कवियों को इस पाठशाला में अध्ययन हेतु आमंत्रित किया । इन विभिन्न प्रदेशों एवं राज्यों से अनेक कवि इस पाठशाला में शास्त्राभ्यास हेतु आने लगे और ब्रजभाषा का विकास विस्तार होने लगा । इस पाठशाला से कविपद पानेवाले कवियों ने सिंध, गुजरात, सौराष्ट्र और राजस्थान के राजदरबारों में अनेक पुरस्कार प्राप्त किये तथा अपनी रचनाओं से हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाया । इन कवियों की रचनाओं में भक्ति काव्य की प्रधानता देखी जाती है जिससे कृष्णलीला का वर्णन, रामभक्ति के साथ-साथ शिव पार्वती की अर्चना का भी वर्णन है ।

----

(1) हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में गुजरात का योगदान - (गुजरात के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय और इनका साहित्य पर प्रभाव - डॉ0 नटवरलाल व्यास) (पृ0 178)

(2) हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में गुजरात का योगदान - (कच्छ की ब्रजभाषा पाठशाला - डॉ0 निर्मला असनानी) (पृ0 317)

गुजरात के इन कवियों की रचनाओं से और विभिन्न उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि अन्य भाषाओं की अपेक्षा ब्रजभाषा का प्रसार देश के अधिकांश भागों में विशेष रूप से था । इस वातावरण में गुजरात के कवियों ने हिन्दी में काव्य रचना करके अपने संदेश को अधिक व्यापक बनाया । धर्म और साहित्य के सात्विक तत्वों को ग्रहण करने के लिए यहाँ की जनता ने कुल, वर्ण, जाति, गोत्र, भाषा और प्रान्त के भेदों से अपने को, मुक्त रखकर गुण ग्राहकता का उदाहरण सारे भारत में स्थापित किया है । केवल साहित्यकारों को ही नहीं बल्कि सामान्य लोगों को भी हिन्दी काव्य का ज्ञान था इसलिए इन कवियों की रचनाओं की वे आलोचना और समालोचना भी करते थे । अनन्तराय रावल की उक्ति उपयुक्त प्रतीत होती है - "गुजराती कविओऐ भालण - मिराना समय थी दयाराम सुधी यथारूचि पोतानी कलम हिन्दी माँ पण चलावी छे, आजे राष्ट्रभाषा थवा थती हिन्दी मध्यकालमाँ ज राष्ट्रभाषा बनी चुकी हती ।"[1]

गुजरात की धार्मिक संगीत भी हिन्दी के विकास में सहायक रहा है । प्राचीन काल में धर्म और मंदिर हमारी ललित कलाओं के उद्‌भव स्थान और आश्रयस्थल थे । वैष्णव धर्म ने संगीत को अपने प्रचार का एक उपकरण बनाया । वैदिककाल के बाद आर्य संगीत के विस्तार के कारण जो महापुरूष और उनके वंशजों ने साथ दिया उनमें यादव कुल का बड़ा हाथ है । यादव आकर गुजरात में बसे और द्वारका को अपना सांस्कृतिक केन्द्र बनाया । यादवों का नेतृत्व गुजरात में श्रीकृष्ण ने किया । इस प्रकार संगीत की जो परम्परा गुजरात में मथुरा प्रदेश से आयी उसने हिन्दी के ﴾ब्रजभाषा﴿ प्रचार में सहायता की ।

गुजरात के सुलतान बहादुरशाह का काल ﴾ई॰सं॰ 1526 - 1537﴿ संगीत का सर्वश्रेष्ठ काल माना जाता है । इनके दरबार में "बैजु" नामक गायक था, वह गुजरात के चांपानेर का रहने वाला था और गुजराती था । उसने संगीत की शिक्षा

﴾1﴿ गुजराती साहित्य ﴾मध्यकाल﴿ - ﴾पृ0 104﴿

वृन्दावन निवासी स्वामी हरीदास से ली थी ।[1] बैजु भक्तिभाव से ओत-प्रोत होकर जिन भजनों को सुनाता था उसकी भाषा बृजभाषा मिश्रित गुजराती होती थी कुछ तो शुद्ध ब्रजभाषा के होते थे ।

ब्रज के कृष्ण भक्ति संगीत परम्परा राजस्थान श्रीनाथ जी होकर गुजरात में भी प्रसारित हुई है । परिणामस्वरूप गुजरात का भक्ति संगीत ब्रज की संगीत परम्परा से पुष्ट हुआ है । 15 श0 के भक्त कवि नरसिंह मेहता, मीरा आदि के भक्ति साहित्य को गुजरात में विशेष रूप से प्रचार-प्रसार का श्रेय जाता है ।[2]

इसके पश्चात् बल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथजी का गुजरात आगमन हुआ और सारा गुजरात हवेली संगीत से गुंज उठा । इस प्रकार उत्तर प्रदेश - ब्रज से हिन्दी भाषा की सरिता बहने लगी । कृष्णदास अधिकारी (ई.स. 1492 से 1575), त्रिकमदास नागर (ई.स. 1734 से 1799) दयाराम (ई.स. 1777 से 1855) और गिरिधरजी के भक्ति गीत और भजन प्रचलित हुए । इस प्रवाह का मूल श्रोत राजस्थान होने के कारण इनकी भाषा में ब्रजभाषा का पुट तो था ही परन्तु कभी-कभी ये भक्त कवि शुद्ध ब्रज भाषा में भी रचना करते थे ।

वैष्णव धर्म के बाद स्वामी नारायण सम्प्रदाय के कवि प्रेमानन्द और ब्रह्मानन्द ने गुजराती के साथ-साथ ब्रजभाषा में भी भजनों की रचना की है । अत: इसका प्रमाण हमें मिलता है कि अनेक धार्मिक सम्प्रदाय हिन्दी प्रदेशों से आकर गुजरात में प्रचलित हुई है ।

---

(1) गुजरात नी अस्मिता - रजनी व्यास (पृ0 180)

(2) गुजरात नी अस्मिता - रजनी व्यास (पृ0 180)

आज भी अनेक वैष्णव धर्मावलम्बी भैयादूज को और कृष्णाष्टमी को मथुरा, गोकुल, वृन्दावन आदि प्रदेश में जाते हैं और अपनी धर्म पिपासा को शान्त करते हैं । उनके धार्मिक आचार्य - महन्त आदि द्वारका आकर धर्म प्रचार हेतु रहते हैं । क्रमश: इनकी शादी-ब्याहादि कार्य भी गुजरात के साथ होने के कारण उत्तर भारत की हिन्दी परम्परा का निर्वाह गुजरात में भी होने लगा । इस प्रकार धार्मिक प्रचार ने गुजरात के जन-जीवन, धर्म एवं साहित्य को अपने प्रभाव से ओत-प्रोत कर दिया ।

गुजरात की कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनका मूल हिन्दी भाषी प्रदेशों में है जैसे - लुहाना । कहा जाता है लुहाणा रघुवंशी है ।[1] इनके वंशज राम पुत्र लव हैं । अर्थात् इनका उदगम स्थान अयोध्या है । गुजरात में आकर बसने के कारण इन्होंने यहाँ के निवासियों के साथ शादी-ब्याह आदि कार्य भी आरम्भ करके अपना वंश विस्तार करके हिन्दी की एक पुष्ट परम्परा को इस देश में स्थापित किया ।

चारणों का आगमन भी सौराष्ट्र, कच्छ और मारवाड़ से हुआ । इन्होंने अपनी भूमि को वीर रस से सिंचने के बाद गुजरात की भूमि पर भी वीर रस के बीज बोये । अपनी बुद्धिमत्ता और कवित्तशक्ति के द्वारा यहाँ के राज दरबार में इनको आश्रय मिला । अपने देश राजस्थान से ये लोग वहाँ की डिंगल-पिंगल भाषा को अपने साथ लाने के अतिरिक्त वहाँ के त्योहार और सांस्कृतिक परम्परा को भी अपने साथ लाये । इस प्रकार राजस्थान की पुष्ट सांस्कृतिक परम्परा का उदार प्रभाव गुजरात में स्पष्ट देखा जा सकता है। अत: चारणों ने भी दोहा चारणी छंद आदि का विकास इस प्रदेश में की है ।

----

(1) गुजरात नी अस्मिता - (पृ0 253)

गुजरात के वनजारे भी राजस्थान के निवासी हैं । मूल रूप से इनकी भाषा मारवाड़ी मिश्रितहिन्दी है । कहा जाता है कि यह जाति कहीं टिक कर नहीं रह सकती । जहाँ भी जाती है वहाँ अपनी भाषा तथा अपनी सांस्कृतिक परम्परा का छाप छोड़ जाती है । इन लोगों का विवाह भी कालान्तर में गुजरातियों के साथ होने लगा । अत: अपने वंशजों को विरासत में अपनी भाषा तथा अन्य सामाजिक आचार-विचार दे गये । इस भाषा का प्रचार भी गुजरात में हुआ । इस प्रकार हिन्दी भाषा की एक सुदृढ़ परम्परा गुजरात में फलने फूलने लगी ।

चैत्री अमावस्या को नर्मदा नदी तटस्थ "सुरपानेश्वर" का मेला तथा कार्तिकी पूनम के दिन शामलाजी का मेला भी इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है ।

सुरपानेश्वर स्थान गुजरात, खानदेश और मध्यप्रदेश की हद (त्रिभेटे) पर स्थित है इसलिए तीनों प्रदेशों का सांस्कृतिक और भाषागत आदान-प्रदान होता रहता था । परन्तु नर्मदा सरोवर परियोजना के कारण अब यह स्थान ही बन्द हो गया है ।

शामलाजी का मेला साबरकांठा जिला का एक महत्त्वपूर्ण मेला है । जिसमें राजस्थान से अनेक लोग भाग लेने आते हैं ।

पावागढ़, गीरनार, शत्रुंजय, चोटिला (कच्छ का) आबू आदि पहाड़ पर आये विभिन्न धार्मिक स्थानों के कारण गुजरातेतर प्रदेशों के यात्रियों का आवागमन युगों से होता रहा है । विभिन्न धर्मों, जातियों और संस्कृति के इन यात्रियों के बीच में जो आदान-प्रदान होता है इसका महत्त्वपूर्ण माध्यम भाषा होती है । इस प्रकार गुजरात विभिन्न मेलों, धर्मस्थानों की यात्राओं तथा राजनैतिक सिमाओं के विविध विस्तार के परिणामस्वरूप अन्य भाषा-भाषियों के साथ भी गहरे सम्पर्क में सहज रूप से रहा है । परिणामस्वरूप, जैसा कि हमने प्रारम्भ में निवेदन किया है, गुजरात में हिन्दी में रचना करनेवाले 8 सौ से अधिक संत, भक्त कवियों का उल्लेख मिलता हैं, हमने इन सैकड़ों कवियों में से उन्हीं कवियों को चुना है जिन्होंने हिन्दी तथा गुजराती में साखियों की रचना की है । इन कवियों के उपलब्ध जीवन और कृतित्व का परिचय यथास्थान दिया गया है ।

गुजरात में हिन्दी के उद्भव और विकास का सम्यक अध्ययन करने के पश्चात् हम गुजरात में साखियों का उद्भव और विकास की चर्चा करेंगे । हालांकि साहित्य की किसी भी विधा का उद्भव होने में कुछ समय लगता है और इसकी उपयोगिता और प्रयोग प्रणाली का प्रभाव इसके प्रयोक्ताओं पर पड़ना भी समय सापेक्ष है । अतः हमने साखी के उद्भव और विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करने के लिए गुजरात के हिन्दी साहित्य के इतिहास के मध्यकाल को स्वीकार किया है।

गुजराती साहित्य के इतिहासकारों ने गुजराती साहित्य के मध्यकाल का आरम्भ नरसिंह मेहता ।ई०स० 1424 से ई०स० 1570 तक। से और समापन दयाराम ।ई०स० 1778 से 1824 तक। माना है । किन्तु हमने नरसिंह मेहता के पूर्वगामी संत ज्ञानी ।ई०स० 1395 से ई०स० 1503 तक। जो अपने जीवन के अंतकाल तक गुजरात के भरूच जिला के मोटासांझा गाँव में रहें उनकी रचनाओं को आधार सामग्री के रूप में स्वीकार किया होने के कारण मध्यकाल का प्रारम्भ ज्ञानीजी से स्वीकार किया है । इसी भांति मध्यकाल का समापन भी हमने पूर्व स्वीकृत दयाराम से न मानकर दयारामोत्तर कवि अर्जुन ।ई०स० 1850 से ई०स० 1920 तक। माना है, क्योंकि भक्त कवि अर्जुन तक मध्यकालीन मानसिकता - जल्दी हुई मनोवृत्ति और बौद्धिकता की अपेक्षा भक्तिभावातिरेक का प्रभाव विशेष परिलक्षित होता है । अर्थात् हमने गुजरात में निर्मित हिन्दी साहित्य के इतिहास का प्रारम्भ ज्ञानीजी से लेकर अर्जुन तक की कालावधि को माना हैं । फलतः हमने गुजरात में निर्मित हिन्दी साहित्य के मध्यकाल की पूर्व सीमा को 14 श० से लेकर 20 श० के पूर्वार्द्ध तक माना है ।

गुजरात में साखियों का उद्भव और विकास

भारतीय साहित्य में साखी काव्य रूप और छन्द का उद्भव कब हुआ यह बताना विपुल शोधकार्य सम्पन्न होने के बावजूद भी कठिन है, फिर भी ध्यान सम्प्रदाय के संतों की हिन्दी वाणियों में अपनी अनुभूति की गवाही या साखी देने के जो प्रमाण मिलते हैं इसके आधार पर स्वतन्त्र काव्य प्रकार के रूप में साखी का उद्भव हम 6 ठी श. से मान सकते हैं । हालांकि ध्यान सम्प्रदाय के किसी संत ने अपनी वाणी को "साखी" का नामाभिधान दिया हो इसका स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है किन्तु दो-दो पंक्तियों में निबद्ध अपनी अनुभूतियों को उन्होंने अपने और अपने गुरू की गवाही या साक्षी के रूप में प्रस्तुत किया है इतना ही नहीं ये वाणियाँ विषयानुरूप विभिन्न अंगों में विभाजित भी मिलती हैं । ध्यान सम्प्रदाय के योगियों की इस प्रकार की गवाही या साक्षी को तथा अंगों में विभाजित वाणी को आगे चलकर के साखी नामक स्वतन्त्र काव्य प्रकार के रूप में मान्यता दी गई हो ऐसा प्रतीत होता है । दोहा में जिस प्रकार मात्राओं के सम्यक निर्वाह को अनिवार्य माना गया है वैसा साखियों के लिए मात्राओं या वर्णों का कोई बन्धन अनिवार्य रूप में आवश्यक माना गया हो ऐसा प्रतीत नहीं होता है । किन्तु दोहों के समान लघु-लघु दो पंक्तियों में निबद्ध होने के कारण दोनों को एक दूसरे के पर्याय के रूप में उदारता से स्वीकार किया गया प्रतीत होता है । दोहों में भी उसके रचयिता योगी, संत भक्तों ने अपनी अनुभूतियों की गवाही दी होने के कारण विषयवस्तुगत साम्य के आधार पर दोहा को साखी बताया गया हो और साखी को दोहा माना गया हो ऐसा कहा जा सकता है । अर्थात् साखी काव्य रूप या छंद का प्रारम्भ किस कवि की कौन सी रचना में किस वर्ष को हुआ यह बताना आवश्यक प्रमाणों की अनुपलब्धि के कारण कठिन है । किन्तु यह हकीकत है कि ध्यान सम्प्रदाय से होता हुआ नाथों, सिद्धों और संतों की वाणियों से गुजरता हुआ यह साखी रूप अभिव्यक्ति

के एक स्वतन्त्र और समर्थ साधन के रूप में मान्यता प्राप्त करने लग गया था और यही कारण है कि गोरख, कबीर आदि की परम्परा में व्यवहृत होती हुई गुजराती के योगी, संत, भक्त कवियों की अभिव्यक्ति का भी लाड़ला साधन बन गया ।

डॉ० भरतसिंह उपाध्याय ने साखी शब्द को स्पष्ट करते हुए कहा है कि परम्परावादी वैदिक धारा में हमें सर्वत्र शास्त्र महिमा मिलेगी । गीता में भी शास्त्र विधि के उत्सर्ग को अच्छा नहीं माना गया है । परन्तु जो साधनाएं सत्य के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के शास्त्र प्रमाण को स्वीकार नहीं करती और न शास्त्र परम्पराओं से ही अपने को बांधती हैं, उनके पास सत्य को या स्वानुभव को परखने की क्या कसौटी है ? और उनकी परम्परा में एकसूत्रता लानेवाला परमतत्व क्या है ? निश्चय: गुरू शिष्य के क्रम से सत्य या स्वानुभव का संप्रेषण है । अत: "साखी" का यहाँ विशेष महत्व है और वह परम्परावादी शास्त्र के प्राय: समान है । जो स्वानुभव एक संत को हुआ उसकी सत्यता किस प्रकार प्रमाण की जाय । प्रमाण है कि कोई गुरू, संत मिले जो उसका साखी बने, गवाही बने, जो अपने अनुभव के द्वारा गवाही दे सके कि तेरा अनुभव सच्चा है । इस प्रकार अनेक संतों ने पिछले संतों की साख भरी है और वे स्वयं दूसरों के लिए गवाही बने हैं । संतों की साखी का वास्तविक मर्म भरतसिंह ने ही बताया है । कबीर साहब गुरू गोरखनाथ की गवाही देते हुए कहते हैं कि - "साखी गोरखनाथ ज्यूँ अमर भये कलि माँही" काण्हवा ने भी इसी प्रकार अपने पूर्व गुरू जालन्धरापा की गवाही दी थी । यह गवाही इसी प्रकार ध्यान सम्प्रदाय में भी बड़ी आवश्यक और महत्वपूर्ण है ।[1]

----

[1] ध्यान सम्प्रदायी - भरतसिंह उपाध्याय [पृ. 147]

गुजरात में साखी लिखने की परम्परा का आरम्भ जैन मुनियों द्वारा हुआ ऐसा कहा जा सकता है । जैनाचार्य अपने ज्ञानोपदेश राजाओं तथा अपने जैन समाज को हितार्थ छोटे काव्य रूपों में सुनाते थे । कालान्तर में यही वाणी एक प्रिय छन्द बनकर काव्य का माध्यम बन गया ।

"दोहा शब्द और व्याप्ति" के लेखक डॉ० ओमानन्द सारस्वतजी लिखते हैं कि जैन महात्मा जहाँ-जहाँ जाते थे वे अपनी कल्याण परम उपदेशमय वाणी को लोकभाषा द्वारा ही जनता के सन्मुख प्रस्तुत करते । इन जैन और सिद्धों के अतिरिक्त संत भक्त आदि लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर यात्रा करते थे, और उनके उपदेश में साखी या साक्षी रूप दोहा रहता था । इससे गुजरात में दोहों का विकास हुआ ।[1]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी के विचार इस सिलसिले में ध्यातव्य है कि सम्भवत: बौद्ध सिद्धों को इस शब्द का ज्ञान था क्योंकि कण्डप्पा के पद में -

"साख करब जालन्धरपाऐं" में जलन्धर पाद को साक्षी रूप में उल्लेख कर रहे हैं । धीरे-धीरे गुरू के वचनों को साखी कहा जाने लगा होगा । बौद्ध सिद्धों के ये उपदेश साखी-वचन, दोहा-छन्दों में लिखे गये थे । इसीलिए दोहा और साखी समानार्थक मान लिए गए होंगे । सरहपाद ने अपने एक दोहे में उसे "उएस" या उपदेश कहा है । यही "उएस" या उपदेश परवर्ती काल में साखी बन गया हो ऐसा लगता है । परवर्ती कबीर साहित्य में तो दोहे का अर्थ ही साखी हो जाता है । अन्य निर्गुणियाँ संतों के सम्प्रदाय में भी साखी शब्द का प्रचलन है । प्राय: साखी की विषयवस्तु का विभाजन अंगों में हुआ करता है अर्थात् साखी साक्षात् गुरू स्वरूप है ।[2]

----

(1) दोहा शब्द और व्याप्ति

(2) हिन्दी साहित्य का आदिकाल - हजारी प्रसाद द्विवेदी (पृ. 112)

द्विवेदीजी की उपरोक्त उक्ति से हमें यह प्रमाण मिलता है कि साखी का मूल बौद्ध साहित्य भी हो सकता है । यह उपदेशात्मक होने के साथ-साथ संतों का एक ऐसा काव्य रूप है जिसमें केवल गुरु वचनों का ही समावेश होता है । द्विवेदीजी के अनुसार रमैनियों के साथ साखी को उसकी प्रामाणिकता बढ़ाने के लिए जोड़ा जाता है । उनका यह विश्वास है कि रमैनी शब्द कबीर सम्प्रदाय में बहुत बाद में चला है परन्तु साखी शब्द निश्चय ही पुराना है ।

उपदेशात्मक होने के कारण डॉ० नजीर मुहम्मद ने इस काव्य रूप को नाथ और निर्गुण सम्प्रदायों द्वारा नीति, व्यवहार, ज्ञान, समता आदि की बात बताने के लिए प्रयोग किया बताया है । इनके अनुसार संतों ने ज्ञान-ध्यान की बातों को उपदेशात्मक ढंग से दो पंक्तियों में कहा और उन्हें "साखी" कहकर पुकारा ।[1]

साखी व्युत्पत्ति और अर्थ :

भगवद्गोमंडल में "साखी" गाने की एक विशिष्ट परम्परा का संकेत मिलता है । इसमें स्पष्ट किया गया है कि स्त्रियाँ गायन के साथ-साथ नृत्य करते समय बीच-बीच में स्थिर रहकर जिन दो पंक्तियों वाले पदों का प्रलंबित स्वर से गायन करती है उन पदों को साखी कहते हैं ।[2] नरसीकृत "रास पंचाध्यायी" के जिन कुछ रास पदों का उल्लेख डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने अपने "सूर-पर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य" नामक शोधग्रंथ के द्वितीय ग्रंथ के प्रथम परिशिष्ट में किया है उनमें भी इसी परम्परा का अनुसरण किया गया हो ऐसा प्रतीत होता है । क्योंकि गोपियाँ गायन और नृत्य करते-करते रुक कर जिन दो कड़ियों को प्रलम्ब स्वर से गायन करती है उनको साखी कहा गया है ।

---

(1) कबीर के काव्य रूप - डॉ० नजीर मुहम्मद (पृ० 60)

(2) भगवद्गोमंडल (पृ॰ 868)

नरसिंह के रास लीला के बीच-बीच में साखी का प्रयोग देखकर गुजरात में उसके उद्भव और प्रचार की संभावना देखते हुए डॉ० सिंह बताते हैं कि "ब्रजभाषा प्रदेश मूलत: वृन्दावन, मथुरा वैष्णव भक्तों का आकर्षण का केन्द्र रहा है द्वारिका निवास के समय नरसिंहजी कुछ ऐसे साधुओं से मिले होंगे जो कृष्ण की जन्म भूमि की यात्रा करके लौट रहे हों, अथवा वहीं रहते हों और इन साधुओं का प्रत्यक्ष प्रभाव इन पर पड़ा हो।"।1।

इस महत्त्वपूर्ण उदाहरण से अनेक अनुमान किए जा सकते हैं -

।1। गुजराती की साखियाँ, ब्रज वृन्दावन के कृष्ण भक्तों के द्वारका में आवागमन की सांस्कृतिक देन है।

।2। इस देन को ग्रहण करने वाला कृष्ण भक्त कवि नरसिंह मेहता हैं।

।3। साखियाँ गुजरात में सगुण भक्तों के माध्यम से आयी, निर्गुण संतों के माध्यम से नहीं।

।4। हाँ, यह हो सकता है कि कबीर की गुजरात यात्रा के समय इस काव्य रूप का, निर्गुण के उपासक और गायकों में भी स्वीकार हुआ हो, प्रयोग हुआ हो।

नरसिंह मेहता ने ये साखियाँ मथुरा, वृन्दावन में होने वाली रास लिलाओं से ली हैं या कृष्ण भक्तों से सुनकर इनका प्रयोग किया है, यह विवादास्पद है।

।1। सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य - द्वितीय परिशिष्ट में

साखी, वचन और वाणी :

डॉ0 श्यामसुन्दर शुक्लजी ने "हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा में भक्ति" के अन्तर्गत "साखी" शब्द का विश्लेषण किया है । उन्होंने कहा है कि विशुद्ध ललित काव्य की रचना करना संत कवियों का लक्ष्य नहीं था । कविता उनकी साधन थी । संतों ने आध्यात्मिक क्षेत्र में जो अनुभव किए उन्हें प्रभावशाली ढंग से जन समुदाय में व्यक्त करने के लिए पद्य रचना को अपनाया । पद्य आसानी से याद रहता है और संगीत के साथ संयुक्त रहने के कारण प्रभावशाली होता है । अतः संत साहित्य साखी सचन या वाणी भी कहा जा सकता है ।[1]

श्याम सुन्दर शुक्लजी की उक्ति से यह स्पष्ट होता है कि साखी गेय है । इससे भगवद्भक्तों मण्डल में साखी के गाने की परम्परा का जो कथन है उसकी पुष्टि होती है ।

साखी ज्ञान की आँखें :

डॉ0 धिरेन्द्र वर्मा संपादित "हिन्दी साहित्य कोश" में साखी शब्द की चर्चा करते हुए लिखा गया है कि साखी शब्द संस्कृत के "साक्षी" शब्द का रूपान्तर है । जिसका अर्थ किसी बात को अपनी आँखों देख चुकने वाला और इसी कारण उसके संबंध में किसी प्रश्न के उठने पर, प्रमाणस्वरूप भी समझा जाने वाला व्यक्ति हुआ करता है तथा कदाचित इसी लिए "कबीर बीजक" में इसे काव्य प्रकार का परिचय "ज्ञान की आँखें" कहकर भी दिया गया है ।[2]

---

(1) हिन्दी साहित्य की निर्गुण धारा में भक्ति - डॉ0 श्यामसुन्दर शुक्ल

(2) हिन्दी साहित्य कोश - डॉ0 धिरेन्द्र वर्मा (पृ. 789)

वर्माजी की "साखी" शब्द की व्याख्या में कबीर द्वारा कही गयी -

"साखी आँखी ज्ञान की
समुझी देखु मन माही ।।"

उक्ति से छंद की उपयोगिता स्पष्ट होती है । साखियों के मनन से हमारी विवेकशक्ति इतनी प्रखर होती है कि हित-अहित का विचार हम कर सकते हैं ।

साखी अथवा साखी को अंग्रेजी में **Witness** भी कहते हैं । जिसका शाब्दिक अर्थ गवाह है । कबीर ने इसी अर्थ की ओर संकेत किया है ।

गवाह (**Witness**), साक्षी :

"निगम जाकी साखी बोलें कहे संत सुजान" अपनी उक्ति का अगर कोई गवाह प्रस्तुत है तो उस उक्ति को कोई काट नहीं सकता । क्योंकि उक्ति की सत्यता को प्रमाण करने के लिए साक्षात् साक्षी प्रस्तुत है । अतः साक्षी एक ऐसी उक्ति है जो अकाट्य है । सूरदासजी ने भी कहा है -

"सूरदास प्रभू अटक न मानत
ग्वाल सबै हैं साखी ।"

फारसी के "गजल" मराठी के "लावणी" और गुजरात के गरबी के गायन में आनेवाली और प्लावित रूप से गायी जाने वाली कड़ियों की समरूपता साखियों के परिप्रेक्ष्य में देखी जा सकती है । इस मुद्दे पर हमने विस्तार से विचार अपने काव्य रूप वाले विभाग में किया है ।

डॉ० प्रेमनारायण शुक्लजी के अनुसार प्रत्येक संत ने अपने साखी - शब्दों - पदों आदि के माध्यम से आत्मचिन्तन - प्रसूत भावों, विचारों एवं तथ्यों का प्रतिपादन किया है । संत अपने आत्मा के स्वर को सुनने के अभ्यस्त होते हैं और वे उसी स्वर को दूसरों को भी सुनाना चाहते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि स्वानुभूति की जिस भूमिका में प्रतिष्ठित होकर उन्होंने जो तत्वचिन्तन किया है वही मानव मात्र के लिए श्रेयकर है । इसलिए संत साहित्य

जो कि उपदेशात्मक हैं और उसका स्पष्ट रूप साखियों के माध्यम से प्रयुक्त होता है, महत्वपूर्ण है । इसमें मानवता के स्वरूप की पूर्ण व्याख्या पायी जाती है । उपदेशात्मक होने के कारण काव्य में जो स्थान भजन, कीर्तन को दिया जाता है वही स्थान साखियों का भी है इसके गायन से आत्मा की शुद्धि का आभास होता है ।[11]

श्रद्धेय :

प्राचीन काल से यह परम्परा चली आ रही है कि शिष्य गुरू की हर उक्ति को वाणी समझते हैं और गुरू जब ब्रम्ह दर्शन की बात करते हैं तब शिष्यों ने उन्हीं बातों को प्रमाणभूत, साक्षीकृत, othentic माना, कालान्तर में गुरू की सारी वाणी को व्यापक अर्थ में "साखी कहा जाने लगा ।

साखी शब्द पहले सीमित था । केवल भगवत साक्षात्कार, निजी अनुभूति का वर्णन करके उसे साखी के रूप में प्रस्तुत करते थे । बाद में गुरू की सभी कल्याणकारी बातों को साखी के रूप में ग्रहण किया गया । भाषा शास्त्र की दृष्टि से इसे साखी शब्द का विकास कहा जा सकता है । सीमितता से विशालता की ओर का प्रस्थान ।

साखी, संत वाणी का सबसे प्राचीन रूप :

संत साहित्य शिरोमणी आचार्य परशुराम चतुर्वेदीजी ने संतों की रचनाओं का सबसे प्राचीन रूप अधिकतर उनके द्वारा रची गई साखियों को बताया हैं । उनके अनुसार ऐसी रचनाओं के लिए, संतों ने साखी शब्द का प्रयोग किस अभिप्राय से किया है यह उनकी कृतियों में अनेक स्थल पर मिल सकते हैं । उन्होंने इसे साक्षी शब्द का रूपान्तर बताया है जिसका अर्थ किसी बात को अपनी आँखों देख चुकने वाला और इसी कारण उसके संबंध में किसी प्रश्न के उठने पर प्रमाण स्वरूप भी समझा जानेवाला व्यक्ति हुआ करता है । संतों की साखियों में

यही बातें मिलती है जिनका उनके रचयिताओं ने अपने दैनिक जीवन में भली-भांति अनुभव कर लिया है । इन्हें अपने निजी कसौटी में कस चुकने के कारण अपनी उक्ति को साधिकार व्यक्त करने की क्षमता उनमें हैं । [1] अर्थात् अपने प्रस्तुत अनुभूति के साक्षी स्वरूप अपने गुरू अथवा ज्ञानी व्यक्ति का अनुभव ही इसका (साखी का) प्रमाण है । साधु-महात्मा की साखियों में इसी विषय का प्रमाण स्पष्ट है ।

साखी की अर्थ व्याप्ति :

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायतजी साखी को दोहे से भिन्न बताते हुए लिखते हैं कि साखी दोहा का पर्यायवाची नहीं है, न ही दोहरा का दूसरा अभिधान है बल्कि साखी के अन्तर्गत दोहा, चौपाई, सोरठा, छप्पय आदि छन्दों को भी प्रतिष्ठा की गई है । [2]

इसी संबंध में डॉ० राजदेवसिंह कहते हैं कि साखी और दोहे में अन्तर अवश्य है । साखी दोहा छन्द में लिखी गई है । साखी का अर्थ है साक्षी अर्थात् गुरू का उपदेश । आचार्य हजारी प्रसादजी के अनुमान को बताते हुए राजदेवसिंहजी लिखते हैं कि शुरू-शुरू में गुरू के सभी उपदेशों को चाहे वह किसी भी छन्द से लिखे गए हो "साखी" कहा जाता होगा । बाद में दोहा छन्द में लिखी वाणियों का साखी नाम रूढ़ हो गया । [3]

---

(1) संत काव्य - आचार्य परशुराम चतुर्वेदी (भूमिका)

(2) हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठ भूमि । (पृ.676)

(3) प्राचीन काव्य संग्रह - डॉ० राजदेवसिंह - 1991 (भूमिका)

गुरू तेगबहादुर के दोहों को साखी नहीं "सलोक" ‡श्लोक‡ कहा गया है । परन्तु संस्कृत के श्लोक से इनका कोई पारिभाषिक संबंध प्रतीत नहीं होता। अत: यह स्पष्ट होता है कि साखियों का विषय प्राय: धर्मोपदेश या सम्प्रदाय सिद्धान्त रहा है और उनकी शैली मुक्तक रही है । यह कहना असमीचीन नहीं होगा कि मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में साखी ‡दोहा‡ सर्वाधिक लोकप्रिय छन्द रहा । अपभ्रंश में जैन सिद्धों के सम्प्रदायिक मतवाद, संतों के खण्डन-मण्डन रहस्यानुभूति, नीति परक उक्तियाँ आदि विविध विषयों के अनुकूल अभिव्यक्ति का माध्यम "साखी" है ।

साखी साहित्य की चर्चा करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि इसके रचयिता मुख्यत: अशिक्षित थे अत: उनके द्वारा साखियों के निर्धारित नियमों का प्रयोग कहीं-कहीं नहीं भी मिलता है । साखी गेय है । अत: जब कभी भी गुरू गाकर शिष्यों को सुनाते थे शिष्य उनका अनुकरण ठीक से न कर सकने के कारण साखियों के मूल में थोड़ी भिन्नता आ जाती है । यह भी सम्भव है कि उस साखी का मूल पाठ किसी अन्य अर्थ में, किसी अन्य रूप में प्रचलित रहा हो और कालान्तर में किसी अन्य अर्थ में प्रयोग हो रहा हो ।

जब किसी काव्य की परम्परा आरम्भ होती है तो प्रत्येक कवि उसी धारा में रचना करने की कोशिश करता है । अत: पूर्वकालिक कविता धारा का प्रभाव भी रचयिताओं पर पड़ता है । कुछ कवि ऐसे भी होते हैं जो अपने भावों को व्यक्त करने के लिए पूर्वकालिक कवियों की भाषा, भाव आदि को ग्रहण कर लेते हैं । जैसे - कबीर का प्रभाव गुजरात के अधिकांश कवियों पर पड़ा है । उनके गुजरात के प्रमुख शिष्य ज्ञानीजी, निर्वाण साहब आदि की रचनाओं में भी उनकी रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । यह कहना असमीचीन न होगा कि साखी लिखने की जो धारा गुजरात में आयी है

उसमें बहुविध प्रबलता कबीर के बाद से आरम्भ हुई ऐसा माना जा सकता है। क्योंकि कबीर के गुजरात भ्रमण के पश्चात् की रचनाओं में साखी की जो विपुलता मिलती है इससे ही हमारा यह अनुमान है कि यह संत कबीर के प्रभाव की महत्ता है जिसने गुजरात के संतों को विपुल परिमाण में साखियाँ लिखने के लिए उत्साहित किया। हालाँकि कबीर से पहले भी गुजरात में साखियाँ मिलती है परन्तु वह सब अल्प परिमाण में हैं और कहीं-कहीं छिट-पुट रूप में मिलते हैं।

जीवन की अनुभूत तथ्यों की रौह में अभिव्यक्ति को ही साखी नाम दिया गया है। हमने यह देखा कि साखियों का श्रीगणेश कबीर के द्वारा हुआ। साखियाँ विभिन्न वर्ण्य-विषय के आधार पर अंगों में विभाजित होती हैं। कबीर की साखियों में 59 अंग हैं। गुरुदेव, सुमिरन, विरह, चितावणी, ज्ञान-विरह, उपदेश आदि वर्ण्य-विषय बनाकर सम्बद्ध साखियों को उस अंग के अन्तर्गत रख दिया गया है।

रीतिकाल में केवल निर्गुणोपासक संतों की ही नहीं, सगुणोपासक भक्तों की भी साखियाँ उपलब्ध होती हैं। ये टट्टी सम्प्रदाय के सिद्धान्त से सम्बद्ध है। पिताम्बर देव की साखी "सिंगार की साखी" नाम से प्रसिद्ध है। प्रेम और श्रृंगार की साखियाँ ही सगुण भक्तों की मिलती है।[1]

---

[1] रीतिकालीन काव्य का शास्त्रीय अध्ययन –
डॉ० पवन कुमार जैन (पृ. 123)